

दिनांक 19 जून, 2010 को लखनऊ में अखिल भारतीय
संस्कृत परिषद द्वारा आयोजित “मानवाधिकार तथा
संस्कृत-वाङ्मय” विषय पर संगोष्ठी के लिये महामहिम श्री
राज्यपाल का उद्बोधन।

देवियों और सज्जनों,

मुझे आज यहाँ अखिल भारतीय संस्कृत परिषद के तत्वावधान
“मानवाधिकार तथा संस्कृत-वाङ्मय” विषय पर में आयोजित संगोष्ठी
में आप सबके बीच आकर बड़ी प्रसन्नता हो रही है। मुझे खुशी है कि
यह परिषद गोष्ठी, व्याख्यान एवं प्रकाशन के माध्यम से संस्कृत भाषा

के प्रचार-प्रसार में निरन्तर प्रयासरत है। इसके लिये मैं इस परिषद से जुड़े सभी महानुभावों को बधाई देता हूँ।

आज की संगोष्ठी का विषय बहुत ही रोचक भी है और महत्वपूर्ण भी। समस्त मानव जाति की सदैव सबसे बड़ी आकांक्षा रही कि दुनिया ऐसी हो जहाँ सभी मनुष्य भय से मुक्त हों और उन्हें अभिव्यक्ति और अपनी मान्यताओं को मानने की स्वतंत्रता भी हो। इसी पृष्ठभूमि में प्रथम एवं द्वितीय महायुद्धों की विभीषिका से आक्रांत विश्व के प्रमुख देशों ने मिलकर लीग आफ नेशन्स एवं बाद को संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की।

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा मानव अधिकार की सार्वभौम घोषणा, 1948 के अनुच्छेद 19(1), जिसे मानव जाति का मैग्नाकार्टा भी कहा जाता है, के अनुसार सभी व्यक्तियों का कर्तव्य समुदायों के प्रति है जिसके द्वारा उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास होता है। इस घोषणा को सदस्य देशों द्वारा अपने कानून में शामिल किया गया और न्यायालयों के माध्यम से प्रभावी बनाया गया। मानवाधिकार की मौलिक अवधारणा को भारतीय संविधान में स्थान दिया गया परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार पर हुई दो अन्तर्राष्ट्रीय सहमतियों की अवधारणा को भारत द्वारा 1976 में अपनाया जा सका। बाद को भारतीय संसद द्वारा मानव अधिकार अधिनियम 1993 पास किया गया

एवं इसी कानून के तहत राष्ट्रीय एवं राज्य मानवाधिकार आयोगों का गठन किया गया। यह मेरा सौभाग्य रहा है कि मुझे चार वर्षों तक मानव अधिकार आयोग के सदस्य के तौर पर काम करने का एवं आयोग के विचार मंथन एवं निर्णयों द्वारा समाज में मानव अधिकार भावनाओं को प्रभावी तरीके से लागू करने में मैं अपना योगदान दे सका। मानवाधिकार की परिकल्पना बीसवीं सदी की विशेष उपलब्धि है। भारतीय संविधान में वर्णित मूल अधिकारों के अध्ययन से पता चलता है कि प्रत्येक अधिकार के साथ एक दायित्व जुड़ा हुआ है।

मानवाधिकार की वर्तमान अवधारणा भारत की प्राचीन समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा में किसी न किसी रूप में अनुस्यूत और संरक्षित

है। जहाँ तक इस विषय पर संस्कृत वाङ्मय में भारतीय चिन्तन की बात है, यह सर्वविदित है कि वेदों को सर्वत्र मानवीय सभ्यता का प्राचीनतम अभिलेख स्वीकार किया जा चुका है और इनमें मानवीय अधिकार की धारणा भी विभिन्न स्वरूपों में विद्यमान है।

भारतीय संस्कृति समादर और समभाव पर आधारित है। जो हमें अधिकार के साथ कर्तव्यों का बोध कराती है। मानवाधिकार संरक्षण में धर्म जाति की संकीर्णताओं से परे मानवीयता का भाव छिपा है। हमारे धार्मिक ग्रन्थों में भी अधिकारों के सन्दर्भ में कर्तव्यों के महत्व पर बल दिया गया है। श्रीमद् भागवत गीता के “कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन” में भी यही भाव लक्षित है।

यजुर्वेद की सूक्ति है:—

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।

मित्रसा चक्षुषा समीक्षामहे ।।”

अर्थात् “सभी मुझे मित्र की निगाह से देखें। मैं सभी को मित्र की निगाह से देखूं। हम सभी एक दूसरे को मित्र की निगाह से देखें। मानव सम्मान में सभी अधिकारों का सार निहित है। महात्मा गाँधी ने भी मित्रभाव एवं दूसरों की गरिमा एवं सम्मान के विषय में अपने उद्गार व्यक्त करते हुए कहा था कि “मेरे लिए यह रहस्य है कि

कोई व्यक्ति अपने साथियों का अपमान करके कैसे सम्मानित महसूस कर सकता है।”

“सर्वे भवन्तु सुखिनः” यह श्लोक मानव जीवन के परम आदर्श को बताता है। बगैर किसी अपवाद के यह कहा जा सकता है कि इसमें सभी के लिए सुख की कामना का एक उद्घात भाव है। सम्पूर्ण मानवता के प्रति सद्भाव की यह उत्कृष्ट भावना हमारे शास्त्रों और संस्कृत ग्रन्थों से ही मिलती है।

संस्कृत साहित्य एवं धर्म ग्रन्थों में दूसरों के अधिकारों का सम्मान करने पर बल दिया गया है। मानवाधिकार से संबंधित भारतीय मूल्य सम्भवतः विश्व में सबसे पुरातन है। मानवाधिकारों और

कर्तव्यों का विवरण उपनिषद और वेदों में मिलता है जिनका अनुपालन समाज में व्यक्तियों को शांति और सुख हासिल करने के लिए आवश्यक माना गया है। ऋग्वेद में उल्लेख है कि सभी मनुष्य बराबर हैं और आपस में भाई हैं जबकि अथर्ववेद में यह बताया गया है कि भोजन और जल जैसे प्राकृतिक संसाधनों पर सभी मनुष्यों का समान अधिकार है।

इसी प्रकार अथर्ववेद की इस सूक्ति में धर्म निरपेक्षता की ओर इंगित किया गया है—

जनं विभूति बहुधा विवाचसंम् । नानाधर्माणं पृथ्वी यथौकसम् ।

अर्थात् यह पृथ्वी हम सभी विभिन्न मतानुयाइयों और भाषा-भाषियों को शांति एवं लाभ प्रदान करे। इसी प्रकार ऋग्वेद की एक सूक्ति में कहा गया है: एकैव मानुषी जाति। अर्थात् सभी मनुष्यों की एक ही जाति है। मनुस्मृति में भी अधिकारों और कर्तव्यों के बारे में स्पष्ट कहा गया है कि एक व्यक्ति के कर्तव्य एवं अधिकार दोनों ही अनुपालनीय हैं।

वेद एवं पौराणिक साहित्य में निरन्तर एक दैविक भाव की धारा प्रवाहित रही है। दैविक भाव या देव भाव का सीधा संबंध देने से है। जो दूसरों को कुछ देता है उसे देव कहा है। निरुक्तकार यास्क ने 'देव' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है—

“देवो दानाद्वा द्योतनाद्वा दीपनाद्वा धुस्थानी भवतीति वा” अर्थात् दान देने के कारण, दीप्त होने के कारण, द्योतित होने के कारण अथवा द्युलोक में निवास करने के कारण देव कहलाते हैं।

देवत्व एवं देने का यह भाव जनकल्याण भावना से सीधा जुड़ा है। इन पौराणिक विचारधाराओं एवं आज की मानव कल्याण विचारधारा में अधिक फर्क नहीं प्रतीत होते। आज की मानवाधिकार दृष्टि हमारी पौराणिक कल्याण धारणा से जुड़ी है। यजुर्वेद की इस संहिता:—

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्नेवानुपश्यति।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति।।

के अनुसार हमें प्रत्येक जीव को अपने मित्र के रूप में देखना चाहिए क्योंकि सभी जीव परमात्मा के अंश हैं। करुणा, क्षमा और सेवा जैसे दिव्य गुण ऐसे व्यक्ति को उसके सहयोगियों की दृष्टि में प्रिय बनाते हैं।

मेरा सौभाग्य नहीं रहा कि मैं संस्कृत का विद्यार्थी रहा हूँ, परन्तु निःसंकोच कह सकता हूँ कि भारत के प्राचीन संस्कृत ग्रंथों एवं अन्य देशों के भी सभी शास्त्रों एवं धर्मग्रन्थों में मानव के जीवन स्वतंत्रता, समानता एवं गरिमा के अनेकानेक उल्लेख हैं। आवश्यकता है गहरे पानी पढत्र कर उन मोतियों को चुनने की, संकलित करने की । यह खुशी की बात है कि आपके परिषद द्वारा इस परिचर्चा से इस

महत्वपूर्ण विषय को उजागर करने के अति सराहनीय प्रयास करने के लिए मैं आपकी सराहना करता हूँ।

अंत में मैं इस संगोष्ठी की सार्थकता हेतु अपनी हार्दिक शुभकामनाएं प्रेषित करते हुए अपनी बात यहीं समाप्त करता हूँ।

धन्यवाद : नमस्कार